विचार-कणिका

[' संसार और धर्म ' की प्रस्तावना*]

यों तो इस संग्रहका प्रत्येक लेख गहन है किन्तु कुछ तो ऐसे हैं कि जो बड़ेसे बड़े विद्वान् या विचारककी भी बुद्धि और समझकी कसौटी करते हैं। विषय विविध हैं। दृष्टिबिन्दु अनेक विध हैं। समालोचना मूलगामी है। अतएव समस्त पुस्तकका रहस्य तो समस्त लेखोंको पढ़कर विचार कर ही प्राप्त किया जा सकता है फिर भी दोनों लेखकोंके प्रत्यक्ष परिचय और इस पुस्तकके वाचनसे मैं जो कुछ समझ पाया हूँ और जिसने मेरे मनपर गहरी छाप जमाई है उससे सम्बद्ध कुछ बातोंकी ही यहाँ चर्चा करता हूँ।

(१) धर्म और तत्त्व-चिन्तनकी दिशा एक हो तभी दोनों सार्थक बन सकते हैं।

(२) कर्म और उसके फलका नियम सिर्फ वैयक्तिक न होकर सामूहिक भी है।

(३) मुक्ति कर्मके विच्छेद या चित्तके विलयमें नहीं है किन्तु दोनोंकी उत्तरोत्तर शुद्धिमें है।

(४) मानवताके सद्गुणोंका रक्षा, पुष्टि और वृद्धि यही परम ध्येय है।

१—तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्यशोधनके प्रयत्नोंमेंसे फलित हुए और होनेवाले सिद्धान्त। धर्म अर्थात् उन सिद्धान्तोंके अनुसरणद्वारा निर्मित वैयक्तिक और सामूहिक जीवन-व्यवहार। यह सच है कि एक ही व्यक्ति या समूहकी योग्यता और शक्ति सदैव एक-सी नहीं होती। अतएव भूमिका और अधिकार-भेदके

---

* नवजीवन संघद्वारा प्रकाशित गुजराती पुस्तक। लेखक—श्री किशोरलाल मशरूवाला और केदारनाथजी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधारसे धर्ममें अन्तर होता है। इतना ही नहीं किन्तु धर्माचरणमें अधिक पुरुषार्थ अपेक्षित होनेसे वह गतिकी दृष्टिसे तत्त्वज्ञानसे पिछड़ भी जाता है। फिर भी यदि दोनोंकी दिशा ही मूलसे भिन्न हो तो तत्त्वज्ञान कितना भी गहरा तथा सच्चा क्यों न हो, धर्म उसके प्रकाशसे वंचित ही रहेगा और फलस्वरूप मानवताका विकास अवरुद्ध हो जायगा। तत्त्वज्ञानकी शुद्धि, वृद्धि और परिपाक जीवनमें धर्मकी परिणतिके बिना असंभव है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके आलम्बनसे शून्य धर्म जडता और वहमसे मुक्त नहीं हो सकता। अतएव दोनोंमें दिशा-भेद होना घातक है। इस वस्तुको एकाध ऐतिहासिक दृष्टान्तके द्वारा समझना सरल होगा। भारतीय तत्त्वज्ञानके तीन युग स्पष्ट हैं। प्रथम युग आत्मवैषम्यके सिद्धान्तका, दूसरा आत्मसमानताके सिद्धान्तका, और तीसरा आत्माद्वैतके सिद्धान्तका। प्रथम सिद्धातके अनुसार माना गया था कि प्रत्येक जीव मूलतः समान नहीं है। प्रत्येक स्वकर्माधीन है और प्रत्येकके कर्म विषम और प्रायः विरुद्ध होनेसे तदनुसार ही जीवकी स्थिति और उसका विकास संभव है। इसी मान्यताके आधारपर ब्राह्मण-कालके जन्मसिद्ध धर्म और संस्कार निश्चित हुए हैं। इसमें किसी एक वर्णका अधिकारी अपनी कक्षामें रह कर ही विकास कर सकता है, उस कक्षासे बाहर जाकर वर्णाश्रम-धर्मका आचरण नहीं कर सकता। इन्द्रपद या राज्यपदकी प्राप्तिके लिए अमुक धर्मका आचरण आवश्यक है किन्तु उसका हर कोई आचरण नहीं कर नहीं सकता और न करा सकता है। इसका अर्थ यही है कि कर्मकृत वैषम्य स्वाभाविक है और जीवगत समानता होनेपर भी वह व्यवहार्य नहीं है। आत्मसमानताके दूसरे सिद्धान्तानुसार घटित आचरण इससे बिल्कुल भिन्न है। उसमें किसी भी अधिकारी या जिज्ञासुको किसी भी प्रकारके कर्मसंस्कारके द्वारा अपना विकास करनेका स्वातंत्र्य है। उसमें आत्मौपम्यमूलक अहिंसा-प्रधान यम-नियमोंके आचरणपर ही भार दिया जाता है। उसमें कर्मकृत वैषम्यकी अवगणना नहीं है किन्तु समानतासिद्धिके प्रयत्नोंके द्वारा उसके निवारणपर ही भार दिया जाता है। आत्माद्वैतका सिद्धान्त तो समानताके सिद्धान्तसे भी एक कदम आगे बढ़ गया है। उसमें व्यक्ति-व्यक्तिके बीच कोई वास्तविक भेद नहीं है। उस अद्वैतमें तो समानताका व्यक्तिभेद भी लुप्त हो जाता है अतएव उस सिद्धान्तमें कर्मसंस्कारजन्य वैषम्यको सिर्फ निवारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य ही नहीं माना किन्तु उसे बिल्कुल काल्पनिक माना गया है। किन्तु हम देखते हैं कि आत्म-समानता और आत्माद्वैतके सिद्धान्तको कट्टरतासे माननेवाले भी जीवन-व्यवहारमें कर्मवैषम्यको ही साहजिक और अनिवार्य मानकर चलते हैं। यही कारण है कि आत्म-समानताके प्रति अनन्य पक्षपात रखनेवाले जैन या वैसे ही दूसरे पंथके लोग जातिगत उच्च-नीचताको मानो शाश्वत मानकर ही व्यवहार करते हैं। इसके कारण स्पर्शास्पर्शका मारणान्तिक विष समाजमें व्याप्त हो गया है, फिर भी इस भ्रमसे वे मुक्त नहीं होते। स्पष्ट है कि उनका सिद्धान्त एक दिशामें है, और धर्म-जीवन-व्यवहार दूसरी दिशामें। यही स्थिति अद्वैत सिद्धान्तका अनुसरण करनेवालोंकी है। वे द्वैतको तनिक भी अवकाश न देकर अद्वैतकी तो बातें करते हैं, किन्तु उनका, यहाँ तक कि संन्यासियोंका भी, आचरण द्वैत और कर्मवैषम्यके अनुसार ही होता है। परिणाम यह है कि तत्त्वज्ञानका विकास अद्वैत तक होनेपर भी उससे भारतीय जीवनको कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टा वह आचरणकी दुनियामें फँसकर छिन्नभिन्न हो गया है। यह एक ही दृष्टान्त इस बातकी सिद्धिके लिए पर्याप्त है कि तत्त्व-ज्ञान और धर्मकी दिशा एक होना आवश्यक है।

२—अच्छी बुरी हालत, उन्नत-अवनत अवस्था और सुखदुःखकी सार्वत्रिक विषमताका पूर्णरूपसे खुलासा केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवादमेंसे मिलनेका संभव नहीं था, अतएव स्वाभाविक रूपसे ही परापूर्वसे प्राप्त वैयक्तिक कर्मफलका सिद्धान्त, मनचाहे प्रगतिशील-वादको स्वीकार कर लेनेपर भी—अधिकाधिक दृढ होता गया। 'जो करे वही भोगे' 'प्रत्येकका भाग्य भिन्न है' 'बोवे वही काटे' 'काटनेवाला और फल चखनेवाला एक और बोनेवाला दूसरा, यह असंभव है' ये सब खयालात केवल वैयक्तिक कर्मफलके सिद्धान्तके आधारसे रूढ हुए और सामान्य रूपसे प्रजा-जीवनके प्रत्येक अंगमें इतने गहरे दृढमूल हो गये कि यदि कोई कहता है कि 'किसी एक व्यक्तिका कर्म केवल उसीमें फल या परिणाम उत्पन्न नहीं करता किन्तु उसका असर उस कर्मकर्ता व्यक्तिके अलावा सामूहिक जीवनमें भी ज्ञात अज्ञात रूपसे फैल जाता है,' तो तथाकथित बुद्धिमान् वर्ग भी चकित हो जाता है और प्रत्येक संप्रदायके विद्वान् या विचारक उसके विरोधमें अपने शास्त्रीय प्रमाणोंका ढेर लगा देते हैं। इस कारण कर्मफलका नियम वैयक्तिक होनेके साथ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामूहिक भी है या नहीं, और नहीं है तो कौन-सी असंगतियाँ या अनुपपत्तियाँ उपस्थित होती हैं और ऐसा हो तो उस दृष्टिसे ही समग्र मानव-जीवनके व्यवहारकी रचना करना चाहिए, इस बातपर कोई गहरा विचार करनेके लिए तैयार नहीं। सामूहिक कर्मफलके नियमकी दृष्टिसे शून्य सिर्फ वैयक्तिक कर्मफल-नियमके कारण मानव-जीवनके इतिहासमें आज तक क्या क्या बाधाएँ आईं और उनका निवारण किस दृष्टिसे कर्मफलका नियम माननेपर हो सकता है, मैं नहीं जानता कि इस विषयमें किसीने इतना गहरा विचार किया हो। किसी एक भी प्राणीके दुःखी होनेपर मैं सुखी नहीं हो सकता, जब तक विश्व दुःखमुक्त न हो तब तक अरसिक मोक्षसे क्या लाभ? यह महायान-भावना बौद्धपरंपरामें उदित हुई थी। इसी प्रकार प्रत्येक संप्रदाय सर्व जगतके क्षेम-कल्याणकी प्रार्थना करता है और समस्त विश्वके साथ मैत्री बढ़ानेकी ब्रह्मवार्ता भी करता है किन्तु वह महायानी भावना या ब्रह्मवार्ता अंतमें वैयक्तिक कर्मफलवादके दृढ संस्कारोंसे टकराकर जीवनमें अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। पूज्य केदारनाथजी और मशरूवाला दोनों कर्मफलके नियमको सामूहिक दृष्टिसे सोचते हैं। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफल-नियमके हैं, इससे मैं भी उसी प्रकार विचार करता था; किन्तु जैसे जैसे उसपर गभीरतासे विचार करता हूँ वैसे वैसे प्रतीत होता है कि कर्मफलके नियमके विषयमें सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे ही सोचना जरूरी है और सामूहिक जीवनकी जवाब-देहियोंको खयालमें रख कर जीवनके प्रत्येक व्यवहारकी घटना और आचरण होना चाहिए। जब वैयक्तिक दृष्टिका प्राधान्य होता है तब तत्कालीन चिंतक उसी दृष्टिसे अमुक नियमोंकी रचना करते हैं, इससे उन नियमोंमें अर्थ-विस्तार संभावित ही नहीं, ऐसा मानना देश-कालकी मर्यादामें सर्वथा बद्ध हो जाने जैसा है। जब सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्मफलके नियमकी विचारणा और घटना होती है तब भी वैयक्तिक दृष्टि लुप्त नहीं हो जाती। उल्टा सामूहिक जीवनमें वैयक्तिक जीवन पूर्णरूपसे समाविष्ट हो जानेसे वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक विस्तृत और अधिक शुद्ध होती है। कर्मफलके नियमकी सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता और कोई भी परिणाम बिना कारण नहीं होता। जैसा परिणाम वैसा ही उसका कारण होना चाहिए। अच्छा परिणाम चाहनेवाला यदि अच्छा कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न करे, तो वह वैसा परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म-फल-नियमकी इस आत्माका सामूहिक दृष्टिसे कर्म-फलको घटाने पर भी लोप नहीं होता। सिर्फ वह वैयक्तिक सीमाके बन्धनसे मुक्त होकर जीवन-व्यवहारकी घटनामें सहायक होता है। आत्म-समानताके सिद्धान्तानुसार या आत्माद्वैतके सिद्धान्तानुसार किसी भी प्रकारसे सोचें, एक बात सुनिश्चित है कि कोई भी व्यक्ति समूहसे सर्वथा भिन्न नहीं है, रह भी नहीं सकता। एक व्यक्तिके जीवन-इतिहासके सुदीर्घ पटपर दृष्टि डालकर सोचें; तो शीघ्र स्पष्ट हो जायगा कि उसमें पूर्वकालके एकत्र हुए और वर्तमानके नये संस्कारोंमें साक्षात् या परंपरासे अन्य असंख्य व्यक्तियोंके संस्कार भी कारण हैं और वह व्यक्ति भी जिन संस्कारोंका निर्माण करता है वे सिर्फ उसी तक मर्यादित नहीं रहते किन्तु अन्य व्यक्तियोंमें भी साक्षात् या परंपरासे संक्रान्त होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टि यह व्यक्ति या व्यष्टिका पूर्ण जोड़ है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म और फलके लिए पूर्ण रूपसे उत्तरदायी हो और अन्य व्यक्तियोंसे अत्यन्त स्वतन्त्र होनेसे उसके श्रेय-अश्रेयका विचार उसीके अधीन हो, तो फिर सामूहिक जीवनका क्या अर्थ होगा? क्योंकि बिल्कुल भिन्न, स्वतन्त्र और पारस्परिक असरसे मुक्त व्यक्तियोंका सामूहिक जीवनमें प्रवेश तो केवल आकस्मिक घटना ही माननी होगी। यदि सामूहिक जीवनसे वैयक्तिक जीवन अत्यन्त भिन्न संभवित नहीं है ऐसा अनुभवसे सिद्ध है, तो तत्त्वज्ञान भी उसी अनुभवके आधारपर प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति व्यक्तिके बीच कितना ही भेद क्यों न दीखता हो फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी ऐसे एक जीवनसूत्रसे ओतप्रोत है कि उसीके द्वारा वे सभी व्यक्ति आपसमें संकलित हैं। यदि वस्तुस्थिति ऐसी है तो कर्मफलके नियमका भी विचार और उसकी घटना इसी दृष्टिसे होनी चाहिए। अब तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी प्रत्येक संप्रदायमें वैयक्तिक दृष्टिसे ही हुआ है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी उसी दृष्टिसे हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवनके बिना हमारा काम नहीं चलता, उसको लक्ष्य करके श्रेय या प्रेयका मौलिक विचार या आचारका निर्माण ही नहीं हो पाया है। सामूहिक कल्याणार्थ बनाई जानेवाली योजनाएँ इसी लिए या तो पद पद पर भग्न हो जाती हैं या निर्बल होकर खटाईमें पड़ जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व-शान्तिका सिद्धान्त निश्चित होता है किन्तु उसका हिमायती प्रत्येक राष्ट्र फिर वैयक्तिक दृष्टिसे ही सोचने लग जाता है। इसीसे न तो विश्व-शांति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय उन्नति स्थिरताको प्राप्त होती है। यही न्याय प्रत्येक समाजमें लागू होता है। किन्तु यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका उन्मेष किया जाय और उसी दृष्टिके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी जबाबदेहीकी मर्यादाको विकसित करे, तो उसके हिताहितकी दूसरोंके हिताहितोंसे टक्कर नहीं होगी और जहाँ वैयक्तिक हानि दीखती होगी वहाँ भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि उसे संतोष देगी। उसका कर्तव्य-क्षेत्र विस्तृत हो जानेसे उसके सम्बन्ध भी व्यापक बन जायँगे और वह अपनेमें एक 'भूमा' का साक्षात्कार करेगा।

३—दुःखसे मुक्त होनेके विचारमेंसे ही उसके कारणभूत कर्मसे मुक्त होनेका विचार स्फुरित हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारका उत्तरदायित्व स्वतः ही बन्धनरूप है। उसका अस्तित्व जब तक है, तब तक पूर्ण मुक्ति संभव ही नहीं। इस धारणामेंसे कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारमेंसे श्रमण-परंपराका अनगारमार्ग और संन्यास-परम्पराका वर्ण-कर्म-धर्मसंन्यास फलित हुआ। किन्तु उसमें जो विचार-दोष था वह शनैःशनैः सामूहिक जीवनकी निर्बलता और बिन-जबाबदेहीके द्वारा प्रकट हुआ। जो अनगार हुए या जिन्होंने वर्ण-कर्म-धर्मका त्याग किया, उन्हें भी जीना तो था ही। हुआ यह कि उनका जीवन अधिक मात्रामें परावलम्बी और कृत्रिम हो गया। सामूहिक जीवनके बंधन टूटने और अस्त-व्यस्त होने लगे। इस अनुभवसे सीख मिली कि केवल कर्म बंधन नहीं है किन्तु उसमें रहनेवाली तृष्णा-वृत्ति या दृष्टिकी संकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही बन्धनरूप है। इन्हींसे दुःख होता है। इसी अनुभवका निचोड़ है अनासक्त कर्मवादके प्रतिपादनमें। इस पुस्तकके लेखकोंने उसमें संशोधन करके कर्मशुद्धिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष सिद्ध करनेको ही महत्त्व दिया है और उसीमें मुक्तिका साक्षात्कार करनेका प्रतिपादन किया है। पाँवमें सुई घुस जाय तो निकाल कर फैंक देनेवालेको सामान्य रूपसे कोई बुरा नहीं कहेगा। किन्तु जब सुई फैंकनेवाला पुनः सीनेके लिए या अन्य प्रयोजनसे नई सुईकी तलाश करेगा और न मिलनेपर अधीर होकर दुःखका अनुभव करेगा, तब बुद्धिमान मनुष्य उससे अवश्य कहेगा कि तुमसे भूल हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सुईका निकालना तो ठीक है क्योंकि वह अस्थानमें थी। किन्तु यदि उसकी भी जीवनमें आवश्यकता है, तो उसे फैंक देना अवश्य भूल है। यथावत् उपयोग करनेके लिए योग्यरूपसे उसका संग्रह कर रखना ही पाँवमेंसे सुई निकालनेका ठीक प्रयोजन है। जो न्याय सुईके लिए है, वही न्याय सामूहिक कर्मके लिए है। सिर्फ वैयक्तिक दृष्टिसे जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमें सुई भोंकने जैसा है। उस सुईको निकाल कर उसका यथावत् उपयोग करनेका मतलब है सामूहिक जीवनकी जवाबदेही समझपूर्वक स्वीकार करके जीना। ऐसा जीवन व्यक्तिके लिए जीवन-मुक्ति है। जैसे जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासनाशुद्धिके द्वारा सामूहिक जीवनके मैलको कम करता रहेगा, वैसे वैसे सामूहिक जीवन विशेष रूपसे दुःखमुक्त होता जायगा। इस प्रकार विचार करनेसे कर्म ही धर्म प्रतीत होगा। अमुक फल अर्थात् रसके अलावा छाल भी। यदि छाल न हो, तो रस टिक नहीं सकता और बिना रसकी छाल भी फल नहीं। इसी प्रकार धर्म तो कर्मका रस है और कर्म केवल धर्मकी छाल है। दोनों जब यथावत् संमिश्रित हों, तभी जीवन-फल प्रकट हो सकता है। कर्मरूप आलम्बनके बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवनकी शुद्धिरूप धर्म रहेगा कहाँ? और यदि ऐसी शुद्धि न हो तो उस कर्मका छालसे अधिक मूल्य भी क्या होगा? इस प्रकारका धर्म-कर्म-विचार इन लेखोंमें ओतप्रोत है। विशेषता यह है कि लेखकोंने मुक्तिकी भावनाका भी विचार सामुदायिक जीवनकी दृष्टिसे किया है और संगति बैठाई है।

कर्म-प्रवृत्तियाँ नाना प्रकारकी हैं। किन्तु उन सबका मूल चित्तमें है। कभी योगियोंने निर्णय किया कि जब तक चित्त है तब तक विकल्प उद्भूत होते रहेंगे और विकल्पोंके होनेसे शांतिका अनुभव नहीं होगा। अतएव 'मूले कुठारः' के न्यायसे वे चित्तके विलय करनेको ही प्रवृत्त हो गये और कई लोगोंने मान लिया कि चित्त-विलय ही मुक्ति है और वही परम साध्य है। मानवताके विकासका विचार तो इसमें उपेक्षित-सा ही रह गया। यह भी कर्मको बन्धन मानकर उसके त्यागके जैसी ही भूल थी। उक्त विचारमें अन्य विचारकोंने संशोधन किया कि चित्तविलय मुक्ति नहीं है किन्तु चित्तशुद्धि ही शक्तिका मार्ग होनेसे मुक्ति है। किन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्तकी शुद्धिको पूर्ण मुक्ति मान लेना अधूरा विचार है। सामूहिक चित्तकी शुद्धि बढ़ाते जाना ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयक्तिक चित्त-शुद्धिका आदर्श होना चाहिए। और यदि वह हो, तो किसी स्थानान्तर या लोकान्तरमें मुक्ति-धाम मानने या कल्पित करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं। वैसा धाम तो सामूहिक चित्तकी शुद्धिमें अपनी शुद्धिकी देन देना ही है।

४—प्रत्येक संप्रदायमें सर्वभूतहितको महत्त्व दिया गया है। किन्तु व्यवहारमें मानव-समाजके भी हितका पूर्णरूपसे आचरण मुश्किलसे दीखता है। अतएव प्रश्न यह है कि मुख्य लक्ष्य कौन-सी दिशामें और किस ध्येयकी ओर देना चाहिए। प्रस्तुतमें दोनों लेखकोंकी विचारसरणी स्पष्ट रूपसे प्रथम मानवताके विकासकी ओर लक्ष्य देने और तदनुसार ही जीवन जीनेकी ओर संकेत करती है। मानवताके विकासका मतलब है मानवताने आज तक जिन सद्गुणोंकी जितनी मात्रामें सिद्धि की है उनकी पूर्णरूपसे रक्षा करना और तद्द्वारा उन्हीं सद्गुणोंमें अधिक संशुद्धि लाना और नये सद्गुणोंका विकास करना, जिससे कि मानव-मानवके बीच द्वन्द्व और शत्रुताके तामस-बल प्रकट न हो सकें। जितने प्रमाणमें इस प्रकार मानवता-विकासका ध्येय सिद्ध होगा उतने ही प्रमाणमें समाज-जीवन संवादी और एकतान बनेगा। इसका प्रासंगिक फल सर्वभूतहित ही होगा। अतएव प्रत्येक साधकके प्रयत्नकी मुख्य दिशा मानवताके विकासकी ही होनी चाहिए। यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्म-फलका नियम घटित करनेके विचारमेंसे ही फलित होता है।

उक्त विचारसरणीसे गृहस्थाश्रमको केन्द्रमें रखकर सामुदायिक जीवनके साथ वैयक्तिक जीवनका सुमेल रखनेकी सूचना मिलती है। गृहस्थाश्रममें ही शेष सभी आश्रमोंके सद्गुणोंको सिद्ध करनेका अवसर मिल जाता है। क्योंकि तदनुसार गृहस्थाश्रमका आदर्श ही इस प्रकारसे बदल जाता है कि वह केवल भोगका धाम न रह कर भोग और योगके सुमेलका धाम बन जाता है। अतएव गृहस्थाश्रमसे विच्छिन्न रूपमें अन्य आश्रमोंका विचार प्राप्त नहीं होता। गृहस्थाश्रम ही चतुराश्रमके समग्र जीवनका प्रतीक बन जाता है। यही वस्तु नैसर्गिक भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org